राष्ट्रधर्म व राजधर्म

नानाजी स्मृति व्याख्यान

मुंबई, अप्रैल 2016

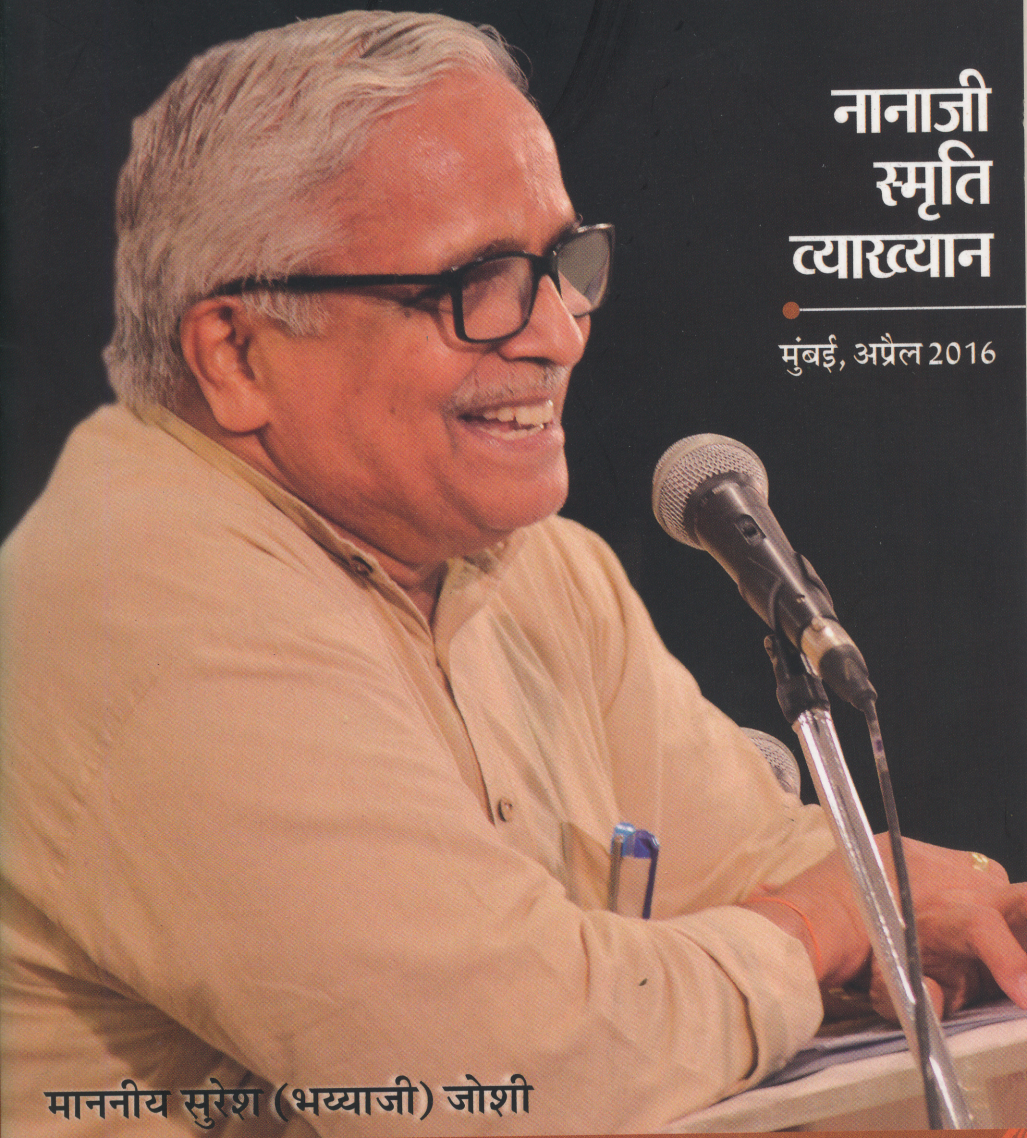

माननीय सुरेश (भय्याजी) जोशी

दीनदयाल शोध संस्थान

एकात्म मानवदर्शन के प्रणेता

पंडित दीनदयाल उपाध्याय

(25 सितंबर, 1916-11 फरवरी, 1968)

राष्ट्रधर्म व राजधर्म

सुरेश (भय्याजी) जोशी
सरकार्यवाह, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

दीनदयाल शोध संस्थान

दीनदयाल शोध संस्थान

प्रस्तावना

दीनदयाल शोध संस्थान के मुख्यालय दिल्ली के अलावा मुंबई में भी प्रतिवर्ष नानाजी स्मृति व्याख्यान का आयोजन किया जाता है. इस कड़ी में चतुर्थ व्याख्यान एक अप्रैल को घैसास सभागार, विले पारले में आयोजित किया गया. विषय था राष्ट्रधर्म व राज्यधर्म. और वक्ता थे राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ के माननीय सरकार्यवाह श्री सुरेश (भय्याजी) जोशी. इस वर्ष हम दो महापुरुषों का जन्मशताब्दी वर्ष मना रहे हैं-एकात्म मानवदर्शन के प्रणेता पंडित दीनदयाल उपाध्याय, और उस दर्शन को शिल्प रूप देने वाले राष्ट्रऋषि नानाजी देशमुख. संस्थान के तत्वावधान में यह कार्यक्रम हो रहा था तो स्वाभाविक रूप से दोनों महापुरूषों के स्मरण का कार्यक्रम था. दीनदयाल जी एक चिंतनशील व्यक्तित्व थे. देश का दुर्भाग्य रहा कि उन्हें समय बहुत कम मिला. किन्तु वे देश को एक अत्यन्त गहरा, देश की आत्मा को समझकर, इस देश का मूलभूत चिन्तन, इस देश के सामने एक वैचारिक सम्पदा के रूप में देकर गए. परन्तु चिन्तन, चिन्तन के स्तर पर ही रह जाए, अथवा ग्रन्थों में सीमित न रह जाए, अपितु इसका व्यावहारिक रूप कहीं अवश्य प्रकट हो, इसकी आवश्यकता रहती है. तभी सिद्धान्तों का शक्ति-सामर्थ्य सिद्ध होता है. पंडित दीनदयाल जी के द्वारा रखा गया चिन्तन व्यावहारिक धरातल पर उतारने का भागीरथ प्रयास श्रद्धेय नानाजी ने किया. उन्होंने चिन्तन के प्रकाश में, दीनदयाल शोध संस्थान के माध्यम से नित्य नए प्रयोग किए और और इन प्रयोगों की सफलता के आधार पर चिन्तन का सामर्थ्य सिद्ध हुआ.

लेकिन पिछले दिनों देश में वैचारिक स्तर पर एक बवाल मचा. देश के एक वर्ग ने स्वार्थवश राष्ट्र की अवधारणा पर ही प्रश्न चिन्ह लगा दिया. अज्ञानतावश, मीडिया भी इस बहस में शामिल हो गया. और देश का बहुमूल्य समय इन अनावश्यक बहस में व्यर्थ चला गया. परन्तु इस बहाने देश के सामने एक बार राष्ट्र, देश व राज्य की परिभाषाओं की देशज व्याख्या करने का अच्छा अवसर प्राप्त हो गया. माननीय भय्याजी ने इन अवधारणाओं को देश के सम्मुख बहुत ही सरल व रोचक ढंग से प्रस्तुत किया. देश से अज्ञानता के बादल छंटे, और मैकॉले प्रेरित अवधारणाओं को स्वार्थवश ढोने वाले तत्वों का यथार्थ सामने आए, इस उद्देश्य से संस्थान ने इस उद्‌बोधन को प्रकाशित करने का निर्णय लिया. प्रस्तुत है, उस विद्वतापूर्ण उद्‌बोधन का संपादित स्वरूप.

राष्ट्रधर्म व राजधर्म

सुरेश (भय्याजी) जोशी

सरकार्यवाह, राष्ट्रीय स्वयंसेवक संघ

दुनिया के भिन्न-भिन्न देशों का, समाजों का अपना एक चिन्तन होता है। यह चिन्तन, विकास की प्रक्रिया में निरन्तर चलता रहता है। उस चिन्तन के प्रकाश में सामाजिक पद्धतियां विकसित होती हैं, जीवन शैली विकसित होती है, विकास के मार्ग प्रशस्त होते जाते हैं। विकास के सन्दर्भ में अनुकूल व्यवस्थाओं का निर्माण भी होता है। यह स्वाभाविक प्रक्रिया है। इस स्वाभाविक प्रक्रिया के चलते उस देश की एक पहचान बनती है। बहुत बार ऐसा होता है कि चिन्तन किसका है यह कहना मुश्किल होता है। किसी चिन्तन का परिचय किसी व्यक्ति के नाम से नहीं मिलता है, बल्कि उस समाज की शैली देखकर उसका साक्षात्कार होता है। किसी व्यक्ति ने चिन्तन रखा, वह कई बार विस्मृति में चला जाता है। भारत में तो यह बात विशेषतया लागू होती है। इस देश के चिन्तन का आधार वेद रहे हैं, और वेद किसने लिखे, यह हमें मालूम नहीं। पर एक बात निश्चित है, कि किसी एक व्यक्ति ने नहीं लिखे।

भारत के सन्दर्भ में हजारों वर्षों से भारतीय ऋषियों ने मूलभूत चिन्तन किया। समग्रता से किया, गहराई से किया। यह वेदों में समाया है। कभी-कभी चिन्तन का दायरा जाने अनजाने में एक भौगोलिक सीमा में सिमट जाता है, समूह विशेष तक सीमित रह जाता है। परन्तु भारतीय चिन्तन न काल की सीमाओं में बांधा जा सकता है, न समूह विशेष के लिए है। क्योंकि भारतीय परम्परा समस्त विश्व के कल्याण की चिंता करती रही है। अपने चिन्तन में विश्व मंगल की कामना किसी भौगोलिक सीमा से बंधी हुई नहीं है। महाराष्ट्र में सन्त ज्ञानेश्वर ने गीता पर विश्लेषण करते हुए अंत में पसायदान के रूप में अगर कुछ मांगा है तो वह है, ''आता विश्वात्मके देवे।'' यानि, इस समस्त विश्व को देने वाली जो ईश्वरीय शक्ति है, उससे वे मांग रहे हैं। भारतीय चिन्तन में व्यापकता, विशालता, समग्रता और गहराई प्रारम्भ से ही रही है।

अपने मनीषियों की एक और विशेषता रही कि उन्होंने सुनने-समझने के दरवाजे कभी बन्द नहीं किए। ऐसा भी हमने नहीं कहा कि हमारे चिन्तन में

कुछ जोड़ा नहीं जा सकता। हमने सब विचारों का स्वागत किया है। ऐसे विचारों, तत्वज्ञान और सिद्धान्तों का स्वागत करने की कसौटी रही है – समाज हित। अर्थात्, चिन्तन मानव कल्याण से सुसंगत है या नहीं। यही भारत की चिरन्तनता का कारण है। अन्यथा इतने आक्रमणों के बाद भारत, भारत नहीं रहता। विश्व मंच पर भारतीय समाज नहीं दिखता। हम चेतना युक्त, प्राण युक्त, नित्य निरन्तर प्रवाहित जीवन को स्वीकार करने वाले लोग हैं।

विभिन्न प्रकार के शब्दों को समझने के लिए अनुवाद करने की परम्परा है। धारा के प्रवाह में हम कई बार इस बारीकी को समझ नहीं पाते। परन्तु अनुवाद से शब्दों के भाव का, तथा उसकी गहराई व विशिष्टता की संकल्पना करना कठिन हो जाता है। ऐसी संकल्पना को परिभाषा की चौखट में बिठाने का प्रयास भी असफल हो जाता है। उदाहरणतः, पाश्चात्य चिन्तन के अनुसार संघटकों के आधार पर परिभाषित करने से परिवार का भाव स्पष्ट हो सकता है क्या? भारत में परिवार की जो कल्पना टिक पायी, वह विदेशों में नहीं टिक पायी। क्योंकि वहां परिवार कानून से बनाया जाता है। हमारे यहां सामाजिक मान्यता से बना। अपने यहां विवाह का रजिस्ट्रेशन अंग्रेजों के आगमन के बाद से हुआ। पंजीकरण में बंधने और टूटने के कानून बने।

इसी तरह, वैकल्पिक शब्द ढूंढने का प्रयास करना भी व्यर्थ है। 'प्रसाद' और 'आरती' के लिए कोई वैकल्पिक शब्द हैं क्या अंग्रेजी भाषा में? हो भी नहीं सकते। क्योंकि वहां इनकी कल्पना नहीं है। शब्द समूहों से वैकल्पिक शब्द ढूंढा भी जाए तो भाव का क्षरण हो जाएगा। तीर्थ क्षेत्र को 'होली प्लेस' से नहीं बदला जा सकता है। यज्ञ के लिए कोई संकल्पना नहीं। झूठे शब्दों से भाव बदलने की कोशिश में सार्थकता नहीं है। 'जिहाद' के लिए अपने यहां कोई शब्द नहीं हैं। क्योंकि हमारे समाज में इनकी कल्पना नहीं है। वैकल्पिक शब्दों से स्पष्टता और भाव प्रकट नहीं हो पाते।

दुर्भाग्य से, विदेशी आक्रमकों ने भारतीय संकल्पनाओं की जगह, अपनी संकल्पनाओं के आधार पर समकक्ष शब्द ढूंढे। लेकिन वे वास्तविक अर्थ के निकट ही पंहुच पाए, सही अर्थ तक नहीं। कुछ शब्दों को उन्होंने सोची समझी रणनीति के अन्तर्गत बदलने का प्रयास किया। वही शिक्षा नीति में भी आया। उसी शिक्षण के चलते एक प्रबुद्ध वर्ग अंग्रेजों की संकल्पनाओं को

स्वीकार करता गया, और समाज अपनी मूलभूत संकल्पनाओं से कहीं भटक गया। मैं यह स्वीकार नहीं करता कि भारत की मानसिकता पर यह आघात निर्दोष भाव से हुआ। अंग्रेजों ने स्पष्ट कहा कि यदि हमें यहां रहना है तो भारत को अपनी मूल चिन्तन-परम्परा व व्यवस्था से काटना होगा। मैकाले की शिक्षा पद्धति के आधार पर भारतीय मूल व्यवस्थाओं पर आघात हुआ। इन्हीं कारणों से अपने समाज जीवन में आज कई प्रकार की समस्याएं व व्याधियां उत्पन्न हो गई हैं।

'धर्म' की संकल्पना दुनिया के किसी हिस्से में नहीं है। अंगेजों ने इसे 'रिलीजन' के समकक्ष रख दिया। संप्रदाय के लिए यहां शब्द नहीं था। जब उन्होंने 'धर्म' शब्द की व्याख्या की तो उन्हें इसमें सम्प्रदाय की व्याख्या नजर आयी। लेकिन संप्रदाय अलग है, धर्म अलग है। उन्होंने धर्म और रिलीजन को एक बता दिया। भारत में भी यही चल पड़ा। कोई रिलीजन पूछे तो आप बोलेंगे 'हिन्दू'। लेकिन हिन्दू तो धर्म है, जिसकी परिभाषा अलग है। ईसाई, मुस्लिम ये संप्रदाय हैं। भारत में सैंकड़ों सम्प्रदाय हैं। कोई शैव है, कोई वैष्णव है। ये धर्म नहीं हैं। अंतर समझने की आवश्यकता है। गड़बड़ यह है कि हम सांप्रदायिक आदमी को धार्मिक मानते हैं। जो पूजा पाठ करते हैं, यात्रा करते हैं, कर्मकांड करते हैं, उन्हें हम धार्मिक मानने लग गए। लेकिन सचमुच में तो वे सांप्रदायिक हैं। धार्मिक लोग अलग हैं। केवल कर्मकांड करना, भस्म लगाना धर्म नहीं। ऐसी सोच उस व्यक्ति की व्यावहारिक क्रियाकलापों को देखने-परखने की दृष्टि का दरवाजा बंद कर देती है।

कई बार देखने में आता है कि दुकानदार तराजू की पूजा करता है। अपनी दुकान में छोटा सा मंदिर बना कर रोजाना उसमें फूल चढ़ाता है। लेकिन उसी तराजू में हेराफेरी करके सामान का वजन कम कर देता है। तो ऐसे व्यक्ति को क्या हम धार्मिक कह सकते हैं? गोमाता को पोलीथिन में खाना देने वाले व्यक्ति को क्या हम धार्मिक मान सकते हैं? कई बार किसी तीर्थ क्षेत्र में जाने के बाद वहां की गंदगी या अव्यवस्था को देखकर कोई दोबारा जाने में संकोच करे तो क्या वह अधार्मिक हो जाएगा? क्या हम इन धारणाओं को स्वीकार करने को तैयार हैं? लेकिन इन सबके बावजूद हम टिके हैं क्योंकि समाज का एक बहुत बड़ा वर्ग इन्हें अस्वीकार कर देता है। धर्म के इस बाह्य स्वरूप को

हमने धर्म मान लिया, यह हमारी भूल है, गलती है। लेकिन अन्य समाजों के लिए यह स्वाभाविक है।

सम्प्रदाय की भी बहुत बड़ी शक्ति है। सम्प्रदाय का अर्थ ही होता है कि उसका कोई एक मार्गदर्शक है। उसका एक विचारों का संग्रह है, उसके ही मार्गदर्शक के रूप में जाना जाने वाला कोई एक ग्रन्थ है। ग्रन्थ द्वारा दी गयी पूजा करने की विशेष पद्धति और कर्मकाण्ड है। अगर हिन्दू को एक सम्प्रदाय मानेंगे तो इसका रचयिता कौन है? कौन सा धर्मग्रन्थ हिन्दुओं का माना जाता है? कोई गीता को मानता है, कोई उपनिषद को मानता है, कोई वेदों की पूजा करता है, कोई भागवत को मानता है। हिंदू एक सम्प्रदाय होता तो उसका एक ग्रन्थ होता, एक पूजा-पद्धति होती, एक ही प्रकार के कर्मकांड होते। भारत में पूजा पद्धति में कई प्रकार की भिन्नताएं हैं। और इतनी सारी भिन्नताओं के बावजूद यहां पर तो यह माना गया है कि जो मानस पूजा करता है वह सबसे श्रेष्ठ है।

हमारे यहां धमार्थ चिकित्सालय या यात्रियों की सुविधा के लिए धर्मशालाएं बनायी जाती हैं। लेकिन वहां कोई पूजा, पाठ तो नहीं होता। वहां यह कभी नहीं कहा जाता कि भगवान के सामने फूल चढ़ाओगे तभी चिकित्सा होगी या ठहरने को कमरा मिलेगा। सारे अधिकारों को छोड़कर समाज के लिए जो भवन बनता है, उसको धर्मशाला कहते हैं। धर्मदायी चिकित्सालय वही होता है जहां लाभ का विचार न करते हुए केवल सेवा करने और चिकित्सा करने की व्यवस्था होती है। यह पाश्चात्य संकल्पना 'चैरिटी' से भिन्न है। राजस्थान में सेठ लोगों ने आम जनता के लिए कुएं, बावड़ी बनवाए। लेकिन वहां कोई पूजा-पाठ तो करवाते नहीं। तो क्या वह धार्मिक कार्य नहीं हुआ? दुर्भाग्य से, धर्म की व्याख्या बदल गयी। समस्या यह है कि इस काल में विदेशी अथवा दूसरी विचारधाराओं के लोग इन बारीकियों को नहीं समझ पाएंगे, क्योकि वहां ऐसी संकल्पनाएं ही नहीं हैं। वहां चैरिटी शब्द चलता है, पर वह धर्म नहीं हो सकता। वह धर्म शब्द का नियरली करेक्ट (Nearly Correct) अनुवाद हो सकता है, पर करेक्ट नहीं। यह बात समझने की आवश्यकता है।

उसी प्रकार राष्ट्र और इसके सन्दर्भ में भी कई प्रकार की बातें हैं। यूनाइटेड नेशन्स आर्गनाइजेशन अर्थात यूएनओ दुनियाभर के देशों का शीर्ष संगठन है। लेकिन वह राष्ट्रों का संगठन नहीं। वहां पर जिस प्रकार की चर्चा

चलती है (और चलनी भी चाहिए), उसका व्यवस्थाओं से सम्बन्ध है, न कि विचारों से। उसका सन्दर्भ विचारों से, मतलब, जीवनशैलियों से कम है। देशों के आपस के सम्बन्ध कैसे रहेंगे, एक दूसरे के पूरक कैसे रहेंगे, इसका चिन्तन है। इसकी आवश्यकता भी है। परन्तु इसे संयुक्त राष्ट्रसंघ कहते हैं तो यह समस्या है, misnomer है। 'राष्ट्र' शब्द की संकल्पना न होने के कारण यह नामकरण ही गलत है। लेकिन इस गलत परिभाषा को आगे बढ़ाया जा रहा है। क्योंकि इस भाव की संकल्पना ही नहीं है कहीं और।

सिर्फ और सिर्फ भारतीय चिन्तन में ही हम तीन भिन्न संकल्पनाओं को समझ सकते हैं-देश, राज्य और राष्ट्र। अंग्रेजी में इनमें कोई विशेष अंतर नहीं है। लेकिन भारतीय चिन्तन में इन तीनों संकल्पनाओं में भिन्नताएं हैं।

देश

किसी भी समूह के लिए एक भूमि की आवश्यकता है। उस भूमि को हम देश कह सकते हैं। ये देश है। चारों ओर की सीमाओं से बंधा हुआ है, एक जमीन का टुकडा, जहां पर लोग रहते हैं, एक 'देश' है।

राज्य

उस भूमि पर सब प्रकार से शासन की सुविधाएं और व्यवस्थाओं को खड़ा करने की प्रक्रिया को 'राज्य' कहा गया है।

परन्तु एक भूमि के टुकड़े पर की गयी व्यवस्थाओं मात्र के आधार पर क्या मनुष्य का जीवन चल सकता है?

राष्ट्र

मनुष्य की अन्य अपेक्षाएं भी रहती हैं। मान सम्मान की भावनाएं होती हैं। समाज के समूहों के सम्मान के विषय भी होते हैं। क्रिकेट में भारत की जीत या किसी भारतीय को नोबेल पुरस्कार मिलने से व्यक्ति विशेष नहीं, बल्कि पूरे राष्ट्र को सम्मान का अनुभव होता है। एक राष्ट्र का गौरव, राष्ट्र का सम्मान, यह है राष्ट्र की परिकल्पना।

हम राष्ट्र की परिकल्पना एक शरीर के रूप में कर सकते हैं। शरीर में सब प्रकार के अवयव हैं। उसमें इंद्रियां हैं। उनके संयुक्त रूप को देश का स्वरूप समझें। उस शरीर की आवश्यकता है खाना-पीना, कपड़े, सुरक्षित रहने

के लिए मकान। परन्तु इतना ही पर्याप्त नहीं होता। एक अर्न्तमन भी है। अन्तर शक्ति, जो दिखाई नहीं देती, जो विश्वरूप है। उसको पं. दीनदयाल जी ने 'चिति' शब्द दिया। वह 'राष्ट्र' है।

इसलिए, राष्ट्र, राज्य और देश इन तीन कल्पनाओं को भिन्न भिन्न रूप से सोचने की आवश्यकता रहती है। ये तीनों एक नहीं हो सकते। हाँ तीनों को मिलाकर एक बनेगा। हम आत्मा का अस्तित्व मानते हैं। लेकिन उसकी अनुभूति शरीर के बिना नहीं हो सकती। लोग कहते हैं कि आत्माएं भटक रही हैं। लेकिन हम तो उनका अनुभव नहीं कर पा रहे। पर आत्माएं तो हैं। यह भी कहा जाता है कि आत्मा अमर है। पर दिखाई तो तभी देती है न जब वह शरीर का रूप धारण कर लेती है। इसलिए आत्मा के प्रकटीकरण के लिए शरीर की आवश्यकता होती है। इसी तरह राष्ट्र रूपी आत्मा के प्रकटीकरण के लिए भूमि की आवश्यकता होती है। वह प्रकटीकरण देश के रूप में होता है। और अगर राष्ट्र का प्रकटीकरण देश के रूप में हैं तो उसकी कुछ व्यवस्थाएं होती हैं। वे राज्य के माध्यम से संचालित होती हैं।

इसलिए, इन तीनों शब्दों यानी संकल्पनाओं का अलग-अलग ही विचार किया जा सकता है। देश प्राकृतिक है। हमने भारत की भूमि निर्माण नहीं की। यह प्रकृति के द्वारा प्राप्त है। राज्य की कल्पना विकसित होती गई है। आवश्यकताएं बदलती गई, और उनके अनुरूप व्यवस्थाएं विकसित होती गयीं। यह कभी भी समाप्त होने वाली बात नहीं है। आज हम राज्य के अन्तर्गत जिस प्रकार व्यवस्थाओं की अपेक्षा करते हैं, यह जरूरी नहीं है कि आज से बीस साल बाद भी वही रहेंगी। आवश्यकतानुसार वे बदलेंगी। यह चक्र यूंही चलता रहेगा।

राष्ट्र एक अदृश्य शक्ति है। जबकि देश सिर्फ शरीर है, भूमि का एक टुकड़ा। किसी देश का एक बड़ा भूभाग रेगिस्तान हो सकता है, किसी का जंगल। लेकिन बिना आत्मा के वह राष्ट्र नहीं कहला सकता। राष्ट्र के स्वभाव के कारण ही देश की पहचान बनती है।

अपने यहां राष्ट्र, राज्य और देश के संदर्भ में संभ्रम की अवस्था का निर्माण किया गया। अंग्रेजों ने कहा कि हम एक राष्ट्र बनाने के लिए यहां

आए हैं। आप तो अलग-अलग बिखरे लोग हैं। इसलिए हम आपको एक राष्ट्र के रूप में विकसित करना चाहते हैं। जिन जिनकी उसमें सहभागिता रही उन व्यक्तियों ने गलत धारणाएं अपना लीं। अपने यहां राष्ट्रपति कैसे बन सकते हैं? राष्ट्र के अध्यक्ष तो बन सकते हैं। पर हमारे यहां शब्द प्रयोग चल पड़ा। उन्होंने कहा 'नेशन इन द मेकिंग'। उन्हें ऐसा दंभ हुआ, मानो वे राष्ट्र बना रहे हों। परन्तु हजारों वर्षो से देश में क्या था?

राष्ट्र कैसे बनता है इसे अथर्ववेद में बताया गया है। यहां के आत्मज्ञानी मनीषियों ने, विश्व के कल्याण की इच्छा से, सृष्टि के प्रारम्भ से तप किया। और उससे ऐसी चेतना युक्त आत्मा का निर्माण हुआ, जिसे राष्ट्र कहा गया। उसी के द्वारा राष्ट्रीय बल और तेज प्रकट हुआ। और इसीलिए, इस देश में निरन्तर रहने वाला, स्वयं को इस राष्ट्र का अंग मानने वाला, उसके आगे सदैव नतमस्तक होकर, उसकी सेवा करेगा। राष्ट्र की यह कल्पना है। परिभाषाएं तय करने से राष्ट्र नहीं बन जाता। अपने यहां साधना के द्वारा एक विशिष्ट जीवनशैली का निर्माण हुआ। उसे राष्ट्र कहा गया। राष्ट्र व राज्य एक नहीं हो सकते। भारत के अन्दर कई प्रकार के राजा थे, राज्य थे। राज्य अलग-अलग थे परन्तु राष्ट्र एक था। राष्ट्र एक होगा, प्रशासन की सुविधानुसार राज्य अलग अलग हो सकते हैं। एक राज्य में भी अलग अलग राष्ट्र हो सकते हैं। जैसे रूस में था। आज मुस्लिम एक राष्ट्र है, परन्तु राज्य कई हैं।

हिन्दू राष्ट्र एक है। उसमें राज्य कई प्रकार के बने हैं। इस कल्पना को ठीक से प्रस्तुत करने की आवश्यकता है, क्योंकि राष्ट्र भाव के दुर्बल होते ही, केवल सुविधाओं में आनंद मनाने वाला समाज खड़ा होता है। अंग्रेजों ने निश्चित रूप से सुविधाएं प्रदान की। लेकिन इससे उन्हें यह अधिकार नहीं मिल जाता कि हमारी प्राचीन परम्पराओं का वे नष्ट कर दें। हमने राज्य की इसी संकल्पना के आधार पर निर्मित संविधान की बातों को राष्ट्रीय माना।

'जन गण मन' आज हमारा राष्ट्रगान है। उसे सम्मान देना ही चाहिए। वह संविधान के आधार पर हमारा राष्ट्रगान है। परन्तु सही अर्थों में देखा जाए तो 'वंदेमातरम्' इस देश का राष्ट्रगीत है। 'जन गण मन' उस समय के राज्य को सामने रखकर दिया गया भाव है। 'वंदेमातरम्' में राष्ट्र का स्वभाव व उसकी शैली प्रकट होती है। 'वंदेमातरम्' के प्रतीक भगवा ध्वज को राष्ट्र का प्रतीक

मानना तिरंगे का अपमान नहीं है। तिरंगा देश के गौरव की प्रतीक है उसका सम्मान भी निश्चित रूप से करना चाहिए।

दूसरी तरफ, राज्य समाज के द्वारा विकसित हुई संकल्पना है। राज्य का निर्माण हुआ है। रचनाएं बनीं हैं। जबकि राष्ट्र किसी के द्वारा नहीं बना। यहां की जीवनशैली, परम्पराएं, मान्यताएं, चिरंतन काल से रही हैं। राज्य की व्यवस्था समय सुसंगत होती हैं, जबकि राष्ट्र की चिरंतन स्थायी। भौगोलिक सीमाएं भी राज्य की व्यवस्थाएं हैं। जब कोई समूह विकसित होता है तो जहां पर रहता है, उस भूमि के प्रति उसके अंत:करण में एक आत्मीयता व श्रद्धा उपजना स्वाभाविक है।

अथर्ववेद में कहा गया - माता भूमि है, मैं इसका पुत्र हूँ। इसके द्वारा हमें सब सुख-सुविधा प्राप्त हो रही हैं, क्योंकि भूमि, माँ है। कहा जाता है कि मातृभूमि शब्द की कल्पना धर्म से आयी। धर्म यदि हमारे जीवन मूल्यों और कर्त्तव्यों का अधिष्ठान है तो वहीं से हमारी भूमि के प्रति कर्त्तव्यों की बात आती है। यह मातृभूमि पुरखों की भूमि है। कश्मीर से कन्याकुमारी, राजस्थान से मणिपुर का रहने वाला जब इस भूमि को माँ कहता है, तो एकात्मता का अनुभव करता है। इसलिए जब कोई 'भारत माता की जय' कहता है तो उसे सांप्रदायिक कैसे कहा जा सकता है? इस भूमि के प्रति उसका भाव इस जयकारे से प्रकट होता है। इससे सिर्फ वे लोग इंकार कर सकते हैं जो भारत को मात्र उपभोग-भूमि मानते हैं। कहा गया, 'हम बुलबुले हैं इसकी, यह गुलिस्तां हमारा।' अगर गुलिस्तां में बहार नहीं रही तो क्या कोई इसे छोड़ देगा? नहीं। संकल्प लेगा इसे सुजलाम-सुफलाम बनाने का। संपूर्ण राष्ट्र को अकाल से बचाने को भगीरथ ने कठोर तपस्या की। अपनी भारत माँ को सुजलाम-सुफलाम बनाने के भाव में कितनी ही पीढ़ियों ने अपनी आहुति दे दी।

हम इस राष्ट्र के घटक हैं, सदस्य नहीं। नागरिक बनना अलग है, इस देश का राष्ट्रीय (घटक) बनना अलग है। अमरीका का ग्रीन कार्ड मिलने से आप वहां के नागरिक बन जाएंगे, लेकिन क्या भारत को भूल जाएंगे? राष्ट्र के रूप में आप भारत के रहेंगे, नागरिक के रूप में अमरीका के। वहां के सब कानूनों का पालन करेंगे। किसी अन्य देश का नागरिक, भारत का नागरिक बन सकता है। परन्तु जिसे इस देश का राष्ट्रीय (घटक) बनना है

उसको इस भूमि का सम्मान करना होगा। भारत की जय, पराजय के प्रति उसके अन्दर वेदना जागनी चाहिए। शत्रु कौन है, मित्र कौन है, इसे पहचानने वाला ही राष्ट्रीय (घटक) होता है। यहां का राष्ट्रीय (घटक) और नागरिक पर्यायवाची नहीं हो सकते। इस पहचान को बनाए रखना, इसके प्रति समर्पित रहना ही राष्ट्रधर्म है। इसके लिए व्यक्तिगत जीवन से ऊपर उठकर राष्ट्र-जीवन से एकात्म होना पड़ता है।

अपने देश में अगर कुछ अव्यवस्थाएं हैं तो उनके प्रति आक्रोश हो सकता है। अगर कुछ बातों से असुविधा है तो उनके विरुद्ध आंदोलित हुआ जा सकता है। लेकिन यह कैसे कहा जा सकता है कि हमारा देश से संबंध समाप्त हो गया। पिछले दिनों में ऐसी कई घटनाएं हुई। उनके विस्तार में जाने की आवश्यकता नहीं, क्योंकि सब जानते हैं कि इस भूमि को गुलिस्तां मानने वाले लोगों ने इसे छोड़ने की बात भी कही। बाह्य पहचान किसी के अंत:करण से होती है। बाहर तभी अच्छा दिखेगा जब वह अंदर से अच्छा है। कुछ समय के लिए वह सच्चाई छुपा सकता है। लेकिन दीर्घकाल के लिए नहीं।

ऐसा कहा जाता है कि अगर सच बोलने वालों की स्मरणशक्ति कमजोर है तो चलेगा। लेकिन असत्य बोलने वालों की स्मरणशक्ति अच्छी रहनी चाहिए। नहीं तो कब क्या कहा, यह भूल जाते हैं। अगर हम ऐसी प्रमाणिकता के साथ काम करते हैं तो किसी भी परिस्थिति में श्रेष्ठ भाव से काम करते हैं। इसी भाव को राष्ट्रधर्म कहते हैं। इस प्रकार के राष्ट्रधर्म का स्मरण करने वाला और पालन करने वाला समाज ही देश की गरिमा को विश्व मंच पर स्थापित कर सकता है।

स्वामी विवेकानन्द ने कभी कहा था कि मैं देख रहा हूं कि भारत माता विश्व के सर्वोच्च सिंहासन पर बैठकर दुनिया को रोशन कर रही है। यहां वह राज्य की सीमाओं का विस्तार करने की बात नहीं कर रहे थे। वह कह रहे थे कि मैं दुनिया को एक श्रेष्ठ मार्गदर्शन देने वाला समाज देख रहा हूं। यही राष्ट्रधर्म है। यह राष्ट्रधर्म अगर कहीं कमजोर होता है या राजा का तेज कम हो जाता है, या फिर उसमें आत्महीनता का भाव जाग जाता है तो वह संवेदनहीन बन जाता है। परंतु यही पर्याप्त नहीं है। प्रजा को दो समय का भोजन चाहिए। सब प्रकार की सुरक्षा की गारंटी चाहिए। आवागमन के उचित

साधन चाहिएं। यह काम किसका है? राजा का। राजा जब तक स्वयं को प्रजा का सेवक मानता है तब तक राजधर्म का पालन होता है। जब वह प्रजा को अपना गुलाम मानने लगता है, उस समय राजधर्म का क्षरण होता है। हमारे यहां कई प्रकार के राजा-महाराजा को हमने देखा है। व्यक्ति राजा बनता था और परंपरा से राज परिवार चलता रहता था। फिर वह उसके योग्य है या नहीं, इसकी चिन्ता नहीं की जाती थी।

काफी समय तक देश में ऐसा चला कि राजा का बेटा राजा बनेगा। इसलिए राज व्यवस्था के प्रति अश्रद्धा निर्माण हुई, एक आक्रोश का निर्माण हुआ। लेकिन क्या कोई संस्कारविहीन राजा प्रजा की सब प्रकार से चिंता करने वाला राजा हो सकता है? इसी कारण से ऐसी परंपरा देश भर से समाप्त हुई। दुनिया से भी समाप्त होती जा रही है। राजा कहीं पर नहीं रहे। अब राजतंत्र नहीं है। अब राज्य शासन की किसी पद्धति को अपनाया गया है। विचारों के आधार पर कोई राज्य संभालने वाला बने, यह परंपरा बनी है।

कहीं पूंजीवादी राज्य व्यवस्था बनी, कहीं पर कार्ल मार्क्स के बाद एक साम्यवादी राज्य की रचना दुनिया के सामने आई। इस व्यवस्था का आधार ही संघर्ष है। परंतु समाज का असंतोष संग्रहित करने का काम जिस व्यक्ति ने किया वह व्यक्ति उसके पतन के बाद खुद भी डिक्टेटर बन गया। यह दुर्भाग्यपूर्ण रचना है। समाज की वेदनाओं को स्वर देने, उसके अस्तित्व की रक्षा के लिए असंतोष का जो भाव निर्माण हुआ, उसे अगर नियंत्रित करना है, और कारोबार ठीक से चलाना है तो मुझे भी इस सारे असंतोष को दबाना पड़ेगा, डिक्टेटर का यही भाव बनता है। 1917 में रूस में क्या हुआ? लेनिन ने क्रान्ति का सूत्रपात किया। लेकिन लेनिन को वही करना पड़ा जो पहले राजा किया करते थे। विचारों का साम्राज्य बन गया। नहीं चला, तो स्टालिन सामने आया। लेनिन समाप्त हुआ। फिर स्टालिन भी समाप्त हुआ। ऐसे भिन्न-भिन्न प्रयोग संसार के मंच पर हुए। उस प्रक्रिया में से लोकतंत्र का जन्म हुआ, और व्यक्ति-समूह को राज करने का अधिकार प्राप्त हुआ। यह एक अच्छी रचना हुई जो कम से कम निर्दोष रही। दोष हो सकता है, पर कम से कम।

लोकतंत्र की व्यवस्था में क्या दोष हैं, इसका अनुभव हम आज कर रहे हैं। अगर मतों के आधार पर लोग चुने जाएंगे तो 50-60 प्रतिशत ही मतदान

होता है। 40 प्रतिशत चयन प्रक्रिया से दूर रहते हैं। परन्तु जीतकर आया उम्मीदवार 20-25 प्रतिशत का प्रतिनिधित्व तो करता ही है। समाज ने चयन किया है। समूह उसे बहुमत से बनाता है। विभिन्न व्यवस्थाओं के संदर्भ में जब राजधर्म की बात करते हैं तो अपने देश में प्राचीन काल से कहा गया कि राजा व्यक्ति है - समूह का नेतृत्व करता है या तानाशाह हो या एक धर्म पर आधारित हो, सभी संदर्भो में राज्य धर्म की परिभाषा एक है। प्रजापालन उसका कर्त्तव्य है, जनसामान्य की आवश्यकताओं की पूर्ति करना उसका काम है। देश का आर्थिक तंत्र कैसे चलेगा, उसे स्थापित करके आर्थिक नियोजन करना उसका दायित्व है। न्यायोचित राज्य बनाना, काल सुसंगत व्यवस्थाएं खड़ी करनी हैं। देश की सीमाएं सुरक्षित करनी हैं। देश के शत्रु कौन हैं, और हितैषी कौन, यह समझना है। जनसामान्य सुरक्षित अनुभव करे, यह व्यवस्था करनी है। यही राजा का धर्म है।

धर्म आधारित राज्य की कल्पना में साम्प्रदायिक राज्य नहीं है। जिन्होंने सम्प्रदाय और धर्म को एक करके देखा, उन्होंने ही धर्म राज्य को साम्प्रदायिक राज्य की परिभाषा दी। बापू (महात्मा गांधी) ने जब रामराज्य की कल्पना की थी, उसका अर्थ यह नहीं था कि कोई सांप्रदायिक कर्मकांड करना है या किसी संप्रदाय पर आधारित शासन व्यवस्था का निर्माण करना है। बिना भेदभाव के, न्यायसंगत राज्य की स्थापना करना और विश्व मंच पर राष्ट्र का गौरव स्थापित करना, यह धर्म राज्य है। उस राज्य की सीमा में रहने वाली सारी जनता उस राज्य से जुड़ाव महसूस करे, वह धर्म राज्य है।

दुर्भाग्य से स्वतंत्रता प्राप्ति के बाद एक कल्याणकारी राज्य की कल्पना चली - लालकिले से पंडित नेहरू ने एलान किया कि अब देश स्वतंत्र हो गया है, अब आपको चिन्ता करने की आवश्यकता नहीं, सब काम सरकार करेगी। क्या गलत दिशा दे दी! हमारी मानसिकता बनी - सब सरकार करेगी, मुझे देश और समाज के लिए कुछ करने की आवश्यकता नहीं। सभी विषयों के लिए जनसामान्य सरकार पर निर्भर हो गया। सत्ताधीश, अनियंत्रित सत्ता का केन्द्र बन गए। इसलिए सत्ता हथियाने का षडयंत्र चलता है। इसीलिए प्रधानमंत्री बनना है। होना यह चाहिए था कि मुझे धर्म राज्य की स्थापना

करनी है, इसलिए राजा बनना है। प्रधानमंत्री मंदिरों में जाएं या ना जाएं, पूजा करें या न करें, इससे धर्म राज्य का कोई सम्बन्ध नहीं।

राष्ट्रधर्म निभाने वाला राजा हमेशा सहिष्णु ही रहेगा, असहिष्णु बन ही नहीं सकता। लेकिन अगर निधर्मी राजा की बात करें तो जीवन पशुवत् हो जाता है। वहां कर्त्तव्य का कोई स्मरण नहीं रह जाता।

सेक्युलरिज्म की कल्पना ने तब जन्म लिया था जब समय संसार में एक पंथिक सम्प्रदाय ने सत्ता हाथ में लेकर दूसरे सम्प्रदाय के साथ अन्याय प्रारम्भ किया। भारत में तो कभी साम्प्रदायिक राज्य रहा ही नहीं। जब गीता में भगवान श्रीकृष्ण ने कहा–जब जब धर्म का ह्रास होता है – तब तब मैं आऊंगा– तो धर्म के ह्रास से उनका तात्पर्य मंदिरों के विनाश से नहीं था। जब–जब यहां कर्त्तव्यों का, दायित्वों का, मूल्यों का क्षरण होगा, तब–तब मैं आऊंगा, यह था उनका तात्पर्य। फिर मैं यहां धर्म की स्थापना करूंगा, ऐसा कहा भगवान श्रीकृष्ण ने। यहां धर्म राज्य बनाने का तात्पर्य है – ऐसा राज्य जो जनता को सुख, सम्पन्नता व गौरवमयी ऊर्जा प्रदान करेगा।

हम यह मॉडल विश्व के सम्मुख प्रस्तुत करना चाहते हैं। यह भारत की जिम्मेदारी है। राज्यधर्म का पालन करने वाली जनता, विश्व के सामने एक ऐसा मार्ग रखना चाहते हैं। यहां 'सर्वे भवन्तु सुखिनः' का मंत्र जब दिया गया तो हम 'बहुजन सुखाय, बहुजन हिताय' से बहुत आगे चले गये। यह कल्पना हमेशा प्रासंगिक है। यह शाश्वत है।

जब राष्ट्रधर्म का पालन होता है, पृथ्वी सुरक्षित रहती है, पर्यावरण की रक्षा होती है, सामाजिक न्याय स्थापित होता है, मानवाधिकार सुरक्षित रहते हैं। अपने यहां अभ्युदय और निश्रेयस दो शब्दों का प्रयोग होता है। इस देश का अभ्युदय धर्म राज्य में है। इस देश की आध्यात्मिक शक्ति राष्ट्रधर्म के पालन में है। राष्ट्रधर्म का लक्ष्य राष्ट्र का परम वैभव है। राज्यधर्म का लक्ष्य विश्व के सामने आदर्श व्यवस्था को प्रस्तुत करना है। यह भारत का दायित्व है। इसमें हम जैसे सामान्य जनों की सहभागिता जब तक नहीं होगी, तब तक इन दोनों धर्मों का पालन करना कठिन है। इसलिए यहां का जनसामान्य राष्ट्रीय बने और प्रशासन सुराज देने वाला बने, ऐसी कामना है।

❑

एकात्म मानवदर्शन के शिल्पकार

राष्ट्रऋषि नानाजी देशमुख

(11 अक्तूबर, 1916–27 फरवरी, 2010)

DEENDAYAL RESEARCH INSTITUTE

Deendayal Research Institute, a premier voluntary organization of India is engaged in socio-economic and applied research in rural India. Ever since it was founded by the noted social scientist and philosopher, Rashtrarishi Nanaji Deshmukh in 1968, the Institute has been striving to validate on ground, the principles enunciated by late Pandit Deendayal Upadhyay through his philosophy of 'Integral Humanism'.

During its existence of over four and a half decades, the DRI, as it is commonly known, the Institute has done pioneering research on various issues and subjects touching rural lives. Briefly, the subjects are:

- agriculture,
- water conservation,
- livestock development,
- rural entrepreneurship and skill development,
- education,
- health and hygiene
- social behavior,
- inculcating scientific temperament among children, and
- identifying and adapting appropriate technology

Swavlamban, i.e., self-reliance is the key word that the Institute's activities revolve around. Contemporising indigenous thought, traditional wisdom and knowledge systems, and technologies are central to its activities. Education and health are other key areas.

A unique 'self-reliance model' evolved by the Institute has been awarded ISO: 9001-2008 for its replicability. Another unique concept that the Institute has worked with is 'Social Architect Couples' as the agents of change in rural India. Over the years, the Institute has evolved such model through its developmental activities in Gonda (UP), Beed and Nagpur (Maharshtra), and its flagship programme in Chitrakoot (UP).

दीनदयाल शोध संस्थान

दीनदयाल शोध संस्थान

7-ई, स्वामी रामतीर्थ नगर, झंडेवाला एक्सटेंशन,
नई दिल्ली-110 055, दूरभाष : 23526735, 23526792
E-mail : dridelhi1@gmail.com, dridelhi@rediffmail.com

May, 2016